

दलित साहित्य की प्रासंगिकता एवं उपादेयता

डॉ० महेश सिंह,

प्रवक्ता—हिन्दी,

आर. जी. एन. पी. कालेज, राजा का ताजपुर, बिजनौर (उ. प्र.)

मानवता का दलन ही दलित है, “किसी भी प्राणी के साथ अमानवीय व्यवहार करना ही उसका दलन है। यह दलन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। भारत में मुख्य दलन आर्थिक व सामाजिक प्रकार का है। खासकर सामाजिक होने का मूल कारण है—वर्ण व्यवस्था। जातियाँ होना बुरी बात नहीं है, विदेशों में भी जातियाँ पायी जाती हैं, कर्मों के आधार पर। हमारे देश में भी प्रारम्भ में जातियाँ कर्मगत थीं। चर्म का काम करने वाला चर्मकार, कुम्भ बनाने वाला कुम्भकार, लोहे का काम करने वाला लोहा, अध्यापन करने वाला अध्यापक था। बाद में जातियाँ रूढ़िगत हो गईं।”¹ जो जिस कार्य को करता था, उसके लड़के को उसी जाति का माना जाने लगा। उसके अन्य विकास को रोकने की कोशिश की जाने लगी। उसे घुटन और छटपटाहट के लिये मजबूर किया जाने लगा। उससे कम मजदूरी पर अधिक काम लिया जाने लगा। उसकी आर्थिक स्थिति धीरे-धीरे कमजोर होने लगी, आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उसका समाज में भी महत्व भी घट गया और समाज में कमजोर होने के कारण वह दलित हो गया तथा शोषक वर्ग का गुलाम हो गया, रोटी, कपड़े के लिए मोहताज हो गया, उससे शिक्षा का अधिकार भी छीन लिया गया और कहा गया कि शास्त्रों में शूद्र तथा स्त्री के लिये शिक्षा वर्जित है तथा शूद्रों और स्त्रियों को शिक्षा से वर्जित रखने का प्रयास किया गया।

हमारा देश परतन्त्र था, सर्वप्रथम मुसलमानों ने इसे लूटने का प्रयास किया,

मुसलमानों के बाद अंग्रेजों का जमाना आया, काफी दिनों तक अंग्रेज रहे। अंग्रेजों के बाद देश स्वतंत्र हुआ और शिक्षा का अंग्रेजीकरण हुआ, जिसमें स्त्री और शूद्र को भी पढ़ने का अधिकार दिया गया, पर शूद्र सामाजिक दृष्टिकोण से दबाये गये थे, उनके घर भोजन के लाले पड़े थे तथा रूढ़िवादिता एवं कट्टरता से समाज जकड़ा हुआ था। यदि चमार या ऐसे ही कमजोर वर्ग के लड़के विद्यालय भी जाते थे तो उन्हें अलग बैठाया जाता था और जाति-पाँति का भेद-भाव रखा जाता था, उन्हें सामाजिक रूप से इतना प्रताड़ित किया जाता था कि उन्हें लाचार होकर विद्यालय छोड़ना पड़ता था। आज समाज में काफी परिवर्तन आ चुका है, दलित वर्ग के बच्चे विद्यालय जाते हैं, उन्हें पढ़ने का भरपूर अधिकार है पर समाज में आज भी उनका निम्न स्थान माना जाता है, तथा समाज उन्हें हीन-भावना का शिकार होने के लिए विवश करता है। ‘भारतीय दलित साहित्य अकादमी’ (मुजफ्फरनगर) बिहार द्वारा दिनांक 03.02.2008 को ‘दलित साहित्य के सामाजिक सरोकार’ विषय पर संगोष्ठी हुई जिसमें डॉ. हरिनारायण ठाकुर ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा, “तन की छुआछूत तो बहुत हद तक मिट चुकी है, पर मन की छुआछूत अभी बाकी है, पूँजीवाद, समाजवाद, मार्क्सवाद, साम्यवाद, गाँधीवाद आदि सभी वाद यहाँ आकर ब्राह्मणवाद में ही विलीन हो जाते हैं। इसलिए दलित प्रश्न केवल दलितों का प्रश्न नहीं है। यह नया अध्ययन सभी पुराने पड़े मूल्य-मान्यताओं और सिद्धान्तों की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसलिए यह शत-प्रतिशत मानवीय सरोकारों का साहित्य है दलित-विमर्श के द्वारा साहित्य

और संस्कृति के अनेक पुराने पड़े प्रतिमान एक बार फिर से जीवित और जीवन्त हो उठे हैं, इसलिए इस पर समाज में खुली बहस होनी चाहिए।² मैं तो पेशे से एक अध्यापक हूँ, मेरे यहाँ लगभग हर वर्ग के अध्यापक हैं, जिसमें चार हरिजन हैं, जिन्हें बात-बात में अन्य अध्यापक पीठ पीछे कहते रहते हैं कि साला चमार है, अभी चमार का असर नहीं गया है। जातीय गुण नहीं जाता है, चाहे व्यक्ति पैसे से कितना ही बड़ा हो जाये। समाज में छुआछूत का यह विष फौला हुआ है, इसे मिटाने के प्रयास हो रहे हैं, पर जो लोग प्रयास कर रहे हैं, उनमें कुछ शोषित वर्ग के हैं, जो तन, मन, तथा धन से लगे हुए हैं, पर कुछ शोषक वर्ग के लोग भी हैं, जिनमें से कुछ छोड़कर ज्यादातर लोग बुद्धि और तन से तो कार्य करते हैं, पर मन से नहीं। जब तक मन से कार्य नहीं करेंगे, तब तक इस समाज से छुआछूत की भावना दूर नहीं हो सकती है। छुआछूत की भावना इतनी प्रबल है कि इसकी गन्ध हमेशा आती रहती है। और कुछ तो अपवित्र होने पर पवित्र हो जाता है पर दलित किसी भी समय, किसी भी ढंग से पवित्र नहीं हो पाता है, “अछूतों का अस्तित्व 400 ई. के भी काफी बाद में हुआ हालांकि अपवित्र की मान्यता काफी पहले से थी। पवित्रता थोड़े समय तक रहती थी और जन्म, मृत्यु, मासिक धर्म आदि के अवसर पर ही पैदा होती थी, अपवित्रता का समय बीत जाने पर या पवित्रता का संस्कार कर देने पर अपवित्रता नष्ट हो जाती थी और वह व्यक्ति फिर पवित्र तथा समाज में मिलने योग्य हो जाता था किन्तु अछूतपन इससे भिन्न है, यह स्थायी है, जो हिन्दू उनका स्पर्श करता है, वह तो स्नान आदि से पवित्र हो जाता है, किन्तु ऐसी कोई चीज नहीं, जो अछूत को पवित्र बना सके, वे अपवित्र ही पैदा होते हैं, जन्म भर अपवित्र ही बने रहते हैं। अपवित्र ही मर जाते हैं और जिन बच्चों को वे जन्म देते हैं, वे बच्चे भी अपवित्र का टीका माथे पर लगाये ही जन्म ग्रहण करते हैं।³ अपवित्रता

उनका आनुवंशिक लक्षण माना जाता है, जिसके जिम्मेदार समीप के मुट्ठी भर लोग हैं, जो अपने अस्तित्व के लिये दूसरों का अस्तित्व मिटाने पर तुले रहते हैं।

महात्मा गाँधी ने अपनी हरिजन पत्रिका में अस्पृश्यता के विषय में लिखा है, “अस्पृश्यों पर थोपी गयी अस्पृश्यता एक ऐसा जहर है जो अपने प्रभाव क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों पर चढ़ गया है। इसलिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अन्य धर्मावलम्बी सभी आपस में एक-दूसरे के लिए अस्पृश्य बन गये हैं। अस्पृश्यता के वास्तविक निवारण से निश्चय ही हम सभी एक-दूसरे के नजदीक आयेंगे और इस प्रकार भारत के विभिन्न समुदायों के बीच हार्दिक एकता पैदा होगी।⁴ महात्मा गाँधी अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म का विकृत रूप मानते थे, “मैं हिन्दू धर्म को अस्पृश्यता के पाप से मुक्त करके उसे शुद्ध कर देना चाहता हूँ, जिस छुआछूत रूपी शैतान ने हिन्दू धर्म को विकृत किया और विरूप बना डाला है, उसे मैं निकाल कर बाहर करना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि अगर यह बुराई जड़मूलल से उखाड़कर फेंक दी गयी, तो वही भाई जो आज धर्म को मुल्क की तरक्की में सबसे अधिक बाधक समझते हैं, फौरन अपनी राय बदल देंगे। हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता के लिए स्थान है तो मैं उसी वक्त इस धर्म का त्याग कर दूँ।⁵

यद्यपि अस्पृश्य भी हिन्दू हैं, पर मुझे ऐसा लगता है, जैसे हिन्दू उन्हें अलग समझते हैं, उन्हें एक विशेष जाति का तो समझते हैं, साथ ही उन्हें धर्मभ्रष्ट भी समझते हैं, “अस्पृश्यता के कारण शर्मिन्दा होना तो दूर की बात है, हिन्दू उसके बचाव की कोशिश करते हैं, उनका तर्क है कि अन्य राष्ट्रों की भाँति हिन्दुओं में कभी दास-प्रथा नहीं रही है और अस्पृश्यता किसी भी स्थिति में दास प्रथा से बुरी नहीं है, यह तर्क किसी छोटे-मोटे आदमी ने नहीं, अपितु स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने अपनी पुस्तक ‘अनहैपी इण्डिया’

में दिया है।⁶ डा. अम्बेडकर अस्पृश्यता के विरोधी थे, उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता दास प्रथा से भी बुरी है, “अस्पृश्यता और दास प्रथा में अन्तर है, जिससे अस्पृश्यता एक परतंत्र सामाजिक व्यवस्था की सबसे खराब मिसाल बन जाती है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपने दास के रूप में रख सकता है, उस पर कोई ऐसी बाध्यता नहीं है कि वह नहीं चाहने पर भी रखे, किन्तु अछूत के पास कोई विकल्प नहीं है। एक अछूत के रूप में पैदा होने पर अछूत की सारी योग्यतायें उसे मिल जाती हैं। दास प्रथा का कानून छुटकारे की इजाजत देता है। एक बार का गुलाम, हमेशा गुलाम, यह गुलाम की नियति नहीं थी। अस्पृश्यता से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं। एक बार अछूत, हमेशा अछूत।”⁷ अस्पृश्यता को अम्बेडकर उस प्रथा से भी बुरी मानते हैं पर वह यह भूल जाते हैं कि अस्पृश्य लोगों को ही दास बनाया जाता था, अतः अस्पृश्य और दास प्रथा एक ही हैं, दोनों के साथ भेद-भाव चलता रहा है, दोनों ही समाज की क्रूर दृष्टि के शिकार रहे हैं।

ऐसे दीन-हीन, अनाथ, अशिक्षित, असभ्य मारे जाने वाले लोगों की संवेदना ही दलित साहित्य है, “हिन्दी में दलित साहित्य को लाने का प्रथम प्रयास डॉ. महीप सिंह ने किया। डॉ. चन्द्रकांत वाडिबडेकर के सहयोग से ‘साहित्य और दलित चेतना’ नामक पुस्तक का सम्पादन किया। यूँ तो उस किताब ऊपरी दृष्टियों से मराठी दलित साहित्य का अनुवाद भर लगेगा। अपितु इसकी पूर्णता में अनेक प्रकार से विविध सामग्री देने का प्रयत्न भी झलकता है।”⁸

“डा. प्रभाकर नारायण परांजये के अनुसार ‘सन् 1960 तक महार, चमार और कैकाडी समाज के युवाओं को अपने स्तर से ऊपर उठाने के प्रयत्नों में जिन अनुभवों का सामना करना पड़ा, उसकी वास्तविकता इन आत्मवृत्तों में शब्दांकित की गयी है।”⁹

यद्यपि साहित्य में ‘दलित’ शब्द बाद में आया, पर दलितों के प्रति संवेदना आदिकाल से ही दिखायी देती है। नाथों तथा सिद्धों ने समाज के निम्न वर्ग की वकालत की है। भक्तिकाल में समाज के निम्नवर्ग की वकालत करने वालों में कबीरदास का नाम अत्यन्त आदर तथा श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है। निर्गुण सम्प्रदाय के अन्य सन्त नानक, दादू, रज्जब, रैदास, धर्मदास, मलूक आदि ने भी कबीर के ही मार्ग पर चलने का प्रयास किया है तथा समाज के निम्न वर्ग को उसका अधिकार दिलाने की भरपूर कोशिश की इसमें कबीर सबसे अग्रणी हैं। ब्राह्मणों के अहंकार पर प्रहार करते हुए कबीर ने लिखा है –

“पण्डित देखहुँ मन मँह जानी।

कह धौँ छूति, कहाँ ते उपजी, तबहिं छूति तुम
मानी।

बादे बन्दे रूधिर के संगे घर पर ही महँ घट
सपचै।

अस्ट-कमल होय पुहुमी आया, छूति कहाँ ते
उपजै।

लख चौरासी नाना बासन सभ सरि भी माटी।
एकै पाट सकल बैठाए, छूति लेत धौ काकी।”¹⁰

कबीर ने समाज की कुरूपता को स्पष्ट कर समाज को विकृत करने वाले लोगों को ललकारते हुए कहा है –

“बामन से गद्हा भला, आन जाति से कुत्ता।

मुल्ला से मुर्गा भला, जगत जगावै सुत्ता।।”

भक्तिकाल के बाद, रीतिकाल तथा आधुनिक काल में भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद युग में इसकी चर्चा लगभग नगण्य रही, छायावाद के उत्तरार्द्ध तथा प्रगतिवाद के पूर्वार्द्ध में दलितों के प्रति साहित्यकार फिर जागरूक हो गये,

प्रगतिवाद तो मनुष्य तथा दलितों की संवेदना पर ही आधारित रहा। निराला में भी प्रगतिवाद के गुण दिखायी देते हैं, उन्होंने 'तोड़ती पत्थर' कविता में लिखा है।

“देखा मुझे उस दृष्टि से,
जो मार खा रोई नहीं।”¹¹

'राम की शक्तिपूजा' में राम दलित वर्ग के हैं, जो रावण के द्वारा सताये जा रहे हैं, तथा शक्ति भी रावण का ही साथ दे रही है –

“अन्याय जिधर है, उधर शक्ति,
कहते छल-छल हो गये नयन,
कुछ बूँद पुनः दृग-जल।”¹²

'भिक्षुक' कविता में भी निराला ने असहाय भिक्षुक का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है, उसके पेट और पीठ दोनों मिलकर एक हो गये हैं। वे झूठी पत्तल चाटने को लाचार हैं –

“चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े
हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े
हुए।”¹³

महाकवि नागार्जुन की भी दलितों के प्रति विशेष संवेदना रही है। उन्होंने गरीबी का बहुत ही दर्दनाक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसे पढ़कर हृदय विदीर्ण हो उठता है –

“कैसे जिँ कठिन है चक्कर,
निर्बल हम बलहीन हैं मक्कर,
तिलझन ताबड़तोड़ कटाकट,
हड़डी की लोहे से टक्कर।”¹⁴

दलित, गरीब फॉका करके जीते हैं। कई दिनों तक इनका भोजन नहीं बनता है, तथा कई दिनों तक इनका चूल्हा नहीं जलता है –

“कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास,
कई दिनों तक कानी कुतिया, सोयी उसके पास,
कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की

गश्त,

कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त,
दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद,
धुँआ उठा आँगन के ऊपर कई दिनों के बाद,
चमक उठीं घर भर की आँखें कई दिनों के बाद,
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।”¹⁵

रामधारी सिंह 'दिनकर' का भी हृदय दलितों के लिए मचल उठा था, समाज की विषमता ने उन्हें बुरी तरह से झकझोर दिया उन्होंने देखा कि कोई घी और मलाई काट रहा है, तथा किसी के लिए नमक और रोटी भी नसीब नहीं हो रही है। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने लिखा –

“श्वानों को मिलता दूध-भात, भूखे बच्चे अकुलाते
हैं।

माँ की छाती से चिपक-ठिठुर जाड़े की रात
बिताते हैं।।

नारी की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाये
जाते हैं।

मालिक तब तेल-फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते
हैं।।”

दिनकर ने इसका समाधान भी दिया है, उनकी दृष्टि में मनुष्यता, इंसानियत तथा मानवता ही मनुष्य को इन कूप-मंडूक विचारों से बाहर निकाल सकती है, जैसा कि स्पष्ट है –

“जब तक मनुज—मनुज का यह,
सुखीग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा।”¹⁶

उपन्यासकारों ने भी दलितों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखायी है, “वस्तुतः हिन्दी में प्रेमचन्द्र के कथा—साहित्य से सहानुभूतिपूर्ण दलित—विमर्श आरम्भ हुआ और अनेक समकालीन तथा परवर्ती उपन्यासकारों ने दलित का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया। आजादी के बाद भैरव प्रसाद गुप्त और नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में जमींदारों द्वारा दलित वर्ग के पात्रों की आर्थिक और दैहिक शोषण का जिसमें उस वर्ग की स्त्रियों का यौन—शोषण भी है, गहरी सहानुभूति और वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ अंकन किया है।

नागार्जुन के ‘बलचमना’ उपन्यास का बलचमना और ‘बरुण के बेटे’ के मछुआरे पात्र दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और अपने शोषकों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाते हैं।”¹⁷ देवेन्द्र सत्यार्थी के ‘रथ के पहिए’ और ‘ब्रह्मपुत्र’ दो उपन्यास दलित वर्ग की दुःखद परिस्थिति का चित्रण करते हैं। ‘रथ के पहिए’ में मध्य प्रदेश की गोड़ जाति का चित्रण किया गया है। ‘ब्रह्मपुत्र’ में ‘ब्रह्मपुत्र’ नदी के पेट में बसे हुए दलितों का चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट का उपन्यास ‘सागर, लहरें और मनुष्य’ में बम्बई महानगर के मछुआरों का चित्रण किया गया है। भट्ट जी ने मछुओं की दीन—हीन दशा तथा अभावों में घुटती जिन्दगी का चित्रण किया है।

सन् 1957 में ‘हिमांशु श्रीवास्तव’ का उपन्यास ‘लोहे के पंख’ प्रकाशित हुआ इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्रण है, गाँव का अभाव, तनाव, दुःख, निरक्षरता तथा अन्धविश्वास का दर्दनाक चित्रण किया गया है।

सन् 1957 में ही रांगेय राघव का ‘कब तक पुकारूँ’ उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में राजस्थान के नटों का जीवन चित्रित है, लेखक ने नटों के सामाजिक जीवन, आचार—विचार, कायदे—कानून तथा यौन—नैतिकता का यथार्थ चित्र अंकित किया है।”¹⁸ रांगेय राघव ने ‘धरती मेरा घर’ उपन्यास में लोहपीटों की दुखद स्थिति का चित्रण किया है। लेखक का स्वर सहानुभूतिपूर्ण है।

सन् 1966 में शैलेश मटियानी का ‘कोई अजनबी नहीं’ उपन्यास प्रकाशित हुआ जो दिल्ली नगर की गन्दी छुतहे बस्तियों में शर्मनाक जीवन बिताने वाले तथा अपमानित होकर जीने के लिए लाचार दलितों का स्वरूप प्रस्तुत करता है।

सन् 1974 में जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का ‘मुर्दाघर’ प्रकाशित हुआ। जिसमें “मुम्बई महानगर की उस जिन्दगी का चित्रण किया गया है, जो सड़कों के किनारे, पुलों पर, गटरों, सीलन और सड़क से भरी झोपड़ियों में दम तोड़ती है, जहाँ छुतहे, रोगों से पीड़ित आवारा औरतें, भीख मांगने वाले कोढ़ी, और अपाहिज, जूठन पर पलने वाले असहाय बच्चे, चोर, जुआरी आदि रहते हैं। यह दुनिया पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अनिवार्य देन है, जो ठीक उसकी आलीशान जिन्दगी के नीचे बिलबिलाती रहती है और एक तरफ अपने अस्तित्व के लिए भीख, चोरी, जुआ, अस्मत्फरोशी आदि का सहारा लेती है और दूसरी तरफ सभ्य दुनिया के पहरेदार, पुलिस के अत्याचारों का शिकार बनती है।”¹⁹

राजेन्द्र अवस्थी के दो चर्चित उपन्यास ‘सूरज किसकी छाँव’ और ‘जंगल के फूल’ में लेखक ने बस्तर के गोड़ जाति के असहाय, अशिक्षित तथा अंधविश्वास का चित्रण किया है।

सन् 1972 में जगदीश चन्द्र का ‘धरती धन न अपना’ उपन्यास प्रकाशित हुआ तथा 1994 में ‘नरक कुण्ड में वास’ उपन्यास प्रकाशित हुआ।

“जगदीश चन्द्र का उपन्यास ‘धरती धन न अपना’ पंजाब के एक गाँव की कथा को उठाकर अनपढ़ चमार जाति के जीवन का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण है कि पाठक की अनुभव सम्पदा का विस्तार होता है, एक प्रकार से करोड़ों हरिजनों की समस्याओं और व्यथा का समकालीन दस्तावेज कहा जा सकता है। हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास है, जो हरिजनों की व्यथा को इतने व्यापक और तीव्र संवेदनाघातों से साहित्य में उजागर करता है।”²⁰

सन् 1975 में गोपाल उपाध्याय का ‘एक टुकड़ा इतिहास’ उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसकी नायिका चनुली ब्राह्मणी शूद्र से शादी कर दलित अभिशाप से मुक्त होना चाहती है, पर वह उससे मुक्त नहीं हो पाती है और जीवन भर दलितों के उत्थान के लिए सवर्णों से लड़ती रहती है।

सन् 1979 में शैलेश मटियानी का ‘सर्पगन्धा’ उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसमें दलित वर्ग की सामाजिक चेतना को प्रस्तुत किया गया है तथा आरक्षण के मुद्दे को गहरी सहानुभूति और संवेदना के साथ उठाया गया है।

सन् 1989 में शिवप्रसाद सिंह का ‘शैलूष’ उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसमें बिन्ध्य क्षेत्र के नटों के व्यक्तित्व को उजागर किया गया है।

सन् 1990 में संजीव का ‘धार’ नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसकी नायिका दलित-वर्ग की मैना है, जो बाहर से घृणित पर अन्दर से संवेदनशील, समझदार, ईमानदार तथा अन्याय का प्रतिकार करने वाली है।

सन् 2000 में मैत्रयी पुष्पा का ‘अल्मा कबूतरी’ छपा। जिसमें “बुन्देलखण्ड क्षेत्र में रहने वाली ‘कबूतरा’ जाति के यथार्थ-जीवन का चित्रण किया गया है जिन्हें औपनिवेशिक शासन में जरायम पेशा जाति घोषित कर न केवल तथाकथित सभ्य समाज की नजरों में उपेक्षा और घृणा का पात्र वरन् पुलिस के अत्याचार का नरम

चारा भी बना दिया था। यद्यपि आजादी के बाद इन जातियों को समान नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो गया है, पर जीविकोपार्जन का कोई सम्मानजनक साधन न उपलब्ध होने से इनके पुरुष अपराध कर्म और स्त्रियाँ देह-व्यापार के लिए विवश होती हैं। भारत की पचपन वर्षों की आजादी ने इनकी नयी पीढ़ी को सम्मानपूर्ण जीवन जीने का कोई विकल्प नहीं दिया है। मैत्रयी पुष्पा ने अपमान, विवशता और पीड़ा से लबालब उनकी जिन्दगी को जीवन्त पात्रों के अद्भुत कथा संसार में बदल दिया है। इसके साथ ही लेखिका ने समानान्तर ‘सभ्य’ समाज की जिन्दगी से उनके टकराव, संघर्ष और पराजय को भी अत्यन्त विश्वसनीय और मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः कज्जा और कबूतरा समाज की मुठभेड़ और द्वन्द्व ही ‘अल्मा कबूतरी’ का केन्द्रीय विषय है, भूरी, उसके बेटे राम सिंह और उसकी बेटी अल्मा की कहानी इस टकराव की कहानी है, जिसमें ‘सभ्य’ समाज से संघर्ष करने और उसका सब कुछ दाव पर लगा देने के बावजूद ‘लहलूहान कबूतरा’ ही होते हैं। इसका कारण यह है कि पूरी व्यवस्था ही अपनी सारी शक्ति के साथ उसके विरोध में खड़ी है। भूरी शरीर का सौदा करके भी अपने बेटे को इस योग्य बनाना चाहती है कि वह सम्मान की जिन्दगी जी सके। पर ऐसा नहीं हो पाता है। वह ‘कबूतरा’ बनकर ही जीने को अभिशप्त है। वह धीरे-धीरे अपनी संघर्ष-क्षमता खोकर पुलिस का दलाल बन जाता है, और अन्ततः डाकू बेदाराम के नाम पर पुलिस द्वारा प्रायोजित मुठभेड़ में मार डाला जाता है।”²¹

सन् 1978 में अमृतलाल नागर का ‘नाच्यो बहुत गोपाल’ प्रकाशित हुआ। इसमें भंगी के दुखद जीवन का चित्रण किया गया है, समाज में निम्न बनने के लिए भंगी को कैसे लाचार किया जाता है ? तथा जो भंगी के साथ रहता है, उसे भी भंगी जैसी ही प्रताड़ना समाज द्वारा मिलती है या उसके साथ कैसा दुर्व्यवहार होता है ? इसका

वर्णन किया गया है। निर्गुनिया ब्राह्मण जाति की कन्या है, तथा एक भंगी के साथ भाग जाती है, उसे ब्राह्मण से भंगी बनना पड़ता है, और भंगी जैसा अमानवीय व्यवहार तथा सामाजिक शोषण करने के लिए बाध्य किया जाता है।

‘गिरीराज किशोर’ के दलित संवेदना से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण उपन्यास प्रकाशित हुए। सन् 1982 में ‘यथा प्रस्तावित’ तथा सन् 1984 में ‘परिशिष्ट’ का प्रकाशन हुआ। दोनों में समाज के सभ्य वर्ग के द्वारा दलित वर्ग के लोगों की उपेक्षा तथा उनके प्रति क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार का चित्रण बड़ी ही सुगमता से किया गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपन्यास, कहानी, काव्य हर क्षेत्र में दलितों के प्रति लेखकों की सहानुभूति दिखायी देती है। साहित्य में दलितों का जीवन सुधारने का भरपूर प्रयास किया गया है, क्रूरता तथा अमानवीय व्यवहार को दिखाकर उसे दूर करने की कोशिश की गयी है। पर मात्र कागजी लेखनी से काम नहीं चलेगा, वर्तमान में इसे व्यवहार में लाने की आवश्यकता है, दलित आन्दोलन की जरूरत है। दलित साहित्य पर जगह-जगह सेमिनार होते हैं, जिसमें तरह-तरह के मनीषी, बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार उपस्थित होते हैं, जिसमें हर वर्ग के लोग होते हैं, वहाँ दलित वर्ग के लोग भी होते हैं। दलित वर्ग के लोग जो वहाँ उपस्थित होते हैं, वास्तव में दलित नहीं होते हैं, उन्हें आर्थिक तथा सामाजिक सम्मान मिल चुका होता है, अतः उनके बीच में दलितों पर सेमिनार करने से कोई लाभ नहीं है, सेमिनार तो उनके बीच होना चाहिए, जो वास्तव में दलित हैं, जिनके घर में खाने के लाले पड़े हैं, जो रिक्शा चलाने और मजदूरी करने के लिए मजबूर हैं, जिनका पेट रिक्शा चलाने तथा मजदूरी करने से भी नहीं भरता है, जिन्हें अपमानित जीवन जीने के लिए लाचार किया जाता है, ऐसे हतोत्साहित, लांछित, दुःखी, शोषित तथा क्रूरता के शिकार व्यक्तियों

को सचेत करना तथा उन्हें उचित मार्ग दिखाना ही उचित साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए, जो व्यावहारिक धरातल से ही सम्भव है, न कि कागजी उछाल से। इसके लिए गाँधी, अम्बेडकर और ज्योतिबाफूले जैसे लोगों की आवश्यकता है, जो गन्दी, गलीज, घृणित भनभनाती मक्खियों से युक्त बस्ती में बैठ सकें, तथा उसमें रहने वाले लोगों की समस्याओं को सुनकर उनका निवारण कर सकें। और उनके हक के लिए लड़ाई लड़े। आज आवश्यकता इस बात की है कि हमें ऐसी कोशिश करनी है कि समाज में सबको सम्मान मिल सके, जो कोशिश से ही सम्भव है, अब कोशिश ऐसी होनी चाहिये कि –

“इस दुनिया में अब न होरी रहे।

बूढ़ी काकी न जूठन की खोरी रहे।

रोती आगे न कोई भी जोरी रहे।

अब यहाँ न किसी की जी हजूरी रहे।।

पत्थर काटते हुए न कोई रोया करे,

खाकर उल्टी करते न कोई सोया करे।

सबके घर में अशन-बसन होया करे

आँसुओं से जमीं न भिगोया करे।।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रचनाकर्म : सम्पादक डा. माया प्रकाश पाण्डेय, जुलाई-सितम्बर-2004, पृ. 21
2. हंस : सम्पादक राजेन्द्र यादव, अप्रैल-2008, पृ. 85
3. रचनाकर्म : सम्पादक डा. माया प्रकाश पाण्डेय, अप्रैल-जून-2005, पृ. 56
4. हरिजन – महात्मा गाँधी – 20-04-34
5. हरिजन – महात्मा गाँधी – 26-1-34
6. अस्पृश्यता : डा. भीमराव अम्बेडकर

7. गाँधी, नेहरू, टैगोर एवं अम्बेडकर : एच. एल. पाण्डेय, पृ. 115
8. रचनाकर्म : सम्पादक डा. माया प्रकाश पाण्डेय, पृ. 56
9. वही, पृ. 56
10. बीजक – शब्द – 41
11. निराला – तोड़ती पत्थर (अपरा संग्रह से) पृ. 29
12. निराला – राम की शक्ति पूजा (अपरा संग्रह से) पृ. 43
13. निराला – भिक्षुक (अपरा संग्रह से) पृ. 67
14. नागार्जुन – 'फूल नहीं रंग बोलते हैं'
15. नागार्जुन – अकाल और उसके बाद (सतरंगे पंखों वाली कविता संग्रह से)
16. दिनकर – कुलश्रेष्ठ, पृ. 87
17. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपालराय, पृ. 428
18. हिन्दी का गद्य साहित्य, प्रो. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 211
19. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपालराय, पृ. 429
20. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डा. नगेन्द्र, पृ. 469
21. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपालराय, पृ. 430